



संविधान की एक उत्तर-कथा

नीति-निर्देशक सिद्धांत
मौलिक अधिकार क्यों
नहीं बन सके ?

नरेश गोस्वामी

भारतीय संविधान मुख्यतः एक सामाजिक दस्तावेज़ है। इसके अधिसंख्य प्रावधानों का उद्देश्य या तो प्रत्यक्षतः सामाजिक क्रांति के लक्ष्यों को मूर्तिमान करना रहा है या फिर इसमें इस क्रांति हेतु आवश्यक स्थितियों का निर्माण करने की कोशिश दिखाई देती है। वैसे तो समूचा संविधान ही राष्ट्रीय जागरण के उद्देश्य से मण्डित दिखाई पड़ता है, लेकिन सामाजिक क्रांति की यह प्रतिबद्धता इसके भाग-3 और 4 में, अर्थात् मौलिक अधिकारों तथा राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में अंतस्थ है। इन्हें हम संविधान की अंतरात्मा कह सकते हैं।

—ग्रेनविल ऑस्टिन

मेरा लेख ऑस्टिन की क्लासिक कृति *इण्डियन कान्स्टीट्यूशन : द कॉर्नरस्टोन ऑफ अ नेशन* से संवाद करने की अनुक्रिया का परिणाम है। ऑस्टिन भारतीय संविधान को सामाजिक क्रांति का दस्तावेज़ कहते हैं। यह लेख ऑस्टिन की इस धारणा पर नीति-निर्देशक सिद्धांतों के कुछ विशेष उपबंधों के संदर्भ में तो विचार करता ही है, साथ ही यह देखने का भी प्रयास करता है कि इन सिद्धांतों में जिस सामाजिक क्रांति की कल्पना की गयी थी वह किस सीमा तक फलीभूत हो पाई। इस अर्थ में यह लेख आंशिक तौर पर भारतीय राज्य-व्यवस्था के बदलते स्वरूप की पड़ताल भी करता है।

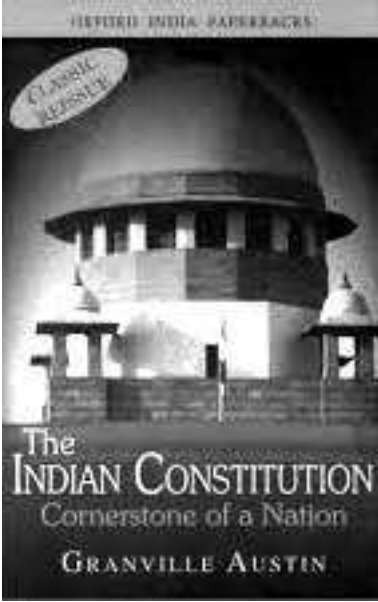
इस लेख के माथे पर अंकित यह उद्धरण ऑस्टिन की उपरोक्त रचना के तीसरे अध्याय से लिया गया है।¹ इस अध्याय में ऑस्टिन मौलिक अधिकारों तथा नीति-निर्देशक सिद्धांतों को संविधान की अंतरात्मा बताते हैं। लेकिन जहाँ तक सामाजिक क्रांति का प्रश्न है तो ऑस्टिन ने इसकी प्रत्यक्ष चर्चा पुस्तक के दूसरे अध्याय—‘व्हिच रोड टू सोशल रेवोल्यूशन’ में की है।² ऑस्टिन इस अध्याय की शुरुआत दो समानांतर क्रांतियों के उल्लेख से करते हैं। उनके अनुसार ये क्रांतियाँ भारत में पहले विश्व-युद्ध के बाद से चली आ रही थीं। इनमें पहली क्रांति तो वह राष्ट्रीय क्रांति थी जो आज़ादी के साथ अपनी परिणति पर पहुँच गयी थी, लेकिन दूसरी क्रांति की प्रकृति सामाजिक थी। यह एक निरंतरता की ओर इंगित करती थी। इसके बाद ऑस्टिन संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य के. संथानम के हवाले से बताते हैं कि इस सामाजिक क्रांति का मतलब ‘भारत को जन्म, धर्म, रूढ़ियों तथा समुदाय के मध्ययुगीन साँचे से मुक्त करना तथा उसकी सामाजिक संरचना की क्रानून, व्यक्तिगत प्रतिभा तथा सेकुलर शिक्षा के आधुनिक आधारों पर पुनर्रचना करना’ था। तीसरी क्रांति ‘आदिम ग्रामीण अर्थव्यवस्था से वैज्ञानिक व नियोजित कृषि और उद्योग की ओर संक्रमण’ की ओर संकेत करती थी।³ इन उद्धरणों के बाद ऑस्टिन सामाजिक क्रांति के इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं :

संविधान सभा का काम एक ऐसा संविधान तैयार करना था जो सामाजिक क्रांति तथा राष्ट्रीय जागरण के महत् लक्ष्यों का वाहक बन सके। लेकिन यह कार्यभार मौलिक अधिकारों या प्रस्तावना में नैतिक संकल्पनाओं की व्यवस्था कर देने से कहीं ज़्यादा जटिल था। इस सामाजिक क्रांति को आगे बढ़ाने या कम से कम इसकी गुंजाइश रखने के लिए राजनीतिक संस्थाओं का रूप किस तरह का होना चाहिए था? यही नहीं, अगर देश में अपेक्षित परिस्थितियाँ ही न हों तो सामाजिक बेहतरी का कोई भी विचार एक व्यर्थ की रूमानियत से ज़्यादा कुछ नहीं हो सकता था। अगर देश में एकजुटता न हो, सरकार अस्थिर हो, जनता सरकार के साथ सहयोग न करती हो या उसकी बात न मानती हो तो ऐसे में आर्थिक प्रगति के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था और सामाजिक बदलाव के लिए

¹ ग्रेनविल ऑस्टिन (1966) : 50.

² वही : 26-49.

³ वही : 26.



सरकार कोई पहल नहीं कर सकती थी। इसलिए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न था कि देश में किस प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ गढ़ी जानी चाहिए ताकि इन सहवर्ती उद्देश्यों को पूरा करने के साथ ऐसी स्थितियाँ भी बनाई जा सकें जिनमें सामाजिक बदलाव का काम अपेक्षाकृत आसानी से किया जा सके? संविधान को एकात्मक बनाया जाए या संघीय, या कि उसे लगभग पूरी तरह विकेंद्रित स्वरूप दिया जाए? सरकार का स्वरूप कैसा हो— क्या उसे नेहरू, पटेल, आज़ाद तथा प्रसाद जैसे दयालु तानाशाहों के आदेशों पर चलना चाहिए? या फिर उसे लोकतांत्रिक कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका और प्रशासन के सामान्यतः स्वीकृत पदानुक्रम पर आधारित होना चाहिए? लेकिन उसका प्रमुख विकल्प कहीं ज्यादा बुनियादी था : संवैधानिक ढर्रे के लिए सभा भारतीय या युरोपीय परम्परा में से किसे चुने? इनमें से कौन सा रास्ता चुन कर भारत में सामाजिक क्रांति के लक्ष्य को सबसे बेहतर ढंग से साधा जा सकता था? ⁴

इस लम्बे उद्धरण पर ध्यान दिया जाए तो यह बात साफ़ हो जाती है कि ऑस्टिन सामाजिक क्रांति की अंतर्वस्तु या

आंतरिक तत्त्व की बात उतनी नहीं कर रहे जितना इसके सांस्थानिक ढाँचे पर ज़ोर दे रहे हैं। उनका ध्यान इस चीज़ पर ज्यादा है कि इस क्रांति के लिए किस प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ आवश्यक होंगी। उनकी फ़िक्र में भारतीय समाज के अंदरूनी तनाव, जातियों और वर्गों की आर्थिक व सामाजिक हैसियत से जुड़ी विषमताएँ शामिल नहीं हैं। क्या संस्थाओं का अपेक्षित ढाँचा बन जाने के बाद सामाजिक क्रांति खुद ही संपन्न हो जाएगी? इस संबंध में ऑस्टिन खुद भी सवाल करते हैं, 'क्या भारतीय समाज सामाजिक क्रांति के तहत कल्पित मौलिक अधिकारों तथा नीति-निर्देशक सिद्धांत जैसे व्यापक प्रावधानों के बल पर संविधान में प्रदत्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के उद्देश्य प्राप्त कर पाया है?' और, इसका उत्तर हाँ में देते हुए कहते हैं कि :

यह कहना ग़लत नहीं होगा कि भारत के संदर्भ में मौलिक अधिकारों से एक नये प्रकार की समानता का जन्म हुआ है जो पारम्परिक भारतीय समाज (मुख्यतः हिंदू) में पहले अनुपस्थित थी। इन अधिकारों से व्यक्तिगत स्वतंत्रता को भी संरक्षण मिला है। अधिकारों के चरित्र, मुद्दों तथा लोगों के व्यवहार की बात छोड़ दें तो भारत में इन अधिकारों की व्याप्ति के बजाय उनके विषय में किसी नकारात्मक आलोचना की ग़ैर-मौजूदगी कहना ज्यादा अर्थपूर्ण है। ख़बरें अधिकारों के अस्तित्व से नहीं बल्कि उनके निषेध से बनती हैं। ⁵

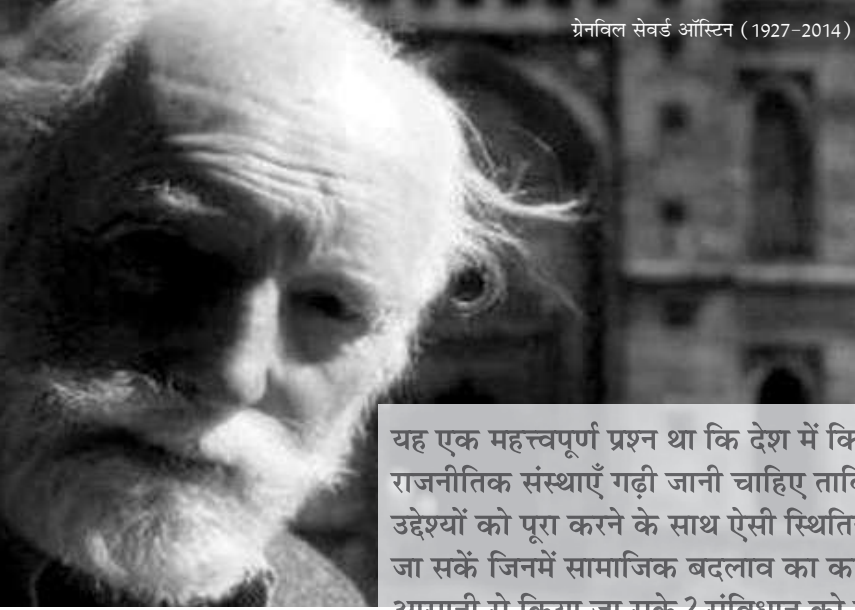
गौरतलब है कि इस उद्धरण में ऑस्टिन अपने इच्छित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए 'अधिकारों के चरित्र, मुद्दों तथा लोगों के व्यवहार' को छोड़ देने की बात करते हैं जिससे यह लगता है कि संविधान की सफलता के संबंध में उनकी दलील संविधान की व्यावहारिक-क्रियात्मक निष्पत्तियों के बजाय उसमें निहित सैद्धांतिक संकल्पनाओं से निर्धारित हो रही है। ऑस्टिन की इस कृति की समीक्षा करते हुए नॉर्मन डी. पॉमर ने भी एक तरह से यही सवाल किया था कि भारत के संविधान का आकलन उसमें अंतस्थ आदर्शों, मूल्यों और संकल्पनाओं के आधार पर किया जाना चाहिए या उसकी व्यावहारिक निष्पत्तियों के आधार पर। ⁶

⁴ वही : 27.

⁵ वही, अध्याय 4 : 114.

⁶ नॉर्मन डी. पामर (1967) : 719-720.





ग्रेनविल सेवर्ड ऑस्टिन (1927-2014)

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि देश में किस प्रकार की राजनीतिक संस्थाएँ गढ़ी जानी चाहिए ताकि इन सहवर्ती उद्देश्यों को पूरा करने के साथ ऐसी स्थितियाँ भी बनाई जा सकें जिनमें सामाजिक बदलाव का काम अपेक्षाकृत आसानी से किया जा सके? संविधान को एकात्मक बनाया जाए या संघीय, या कि उसे लगभग पूरी तरह विकेंद्रित स्वरूप दिया जाए? सरकार का स्वरूप कैसा हो— क्या उसे नेहरू, पटेल, आज़ाद तथा प्रसाद जैसे दयालु तानाशाहों के आदेशों पर चलना चाहिए? या फिर उसे लोकतांत्रिक कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका और प्रशासन के सामान्यतः स्वीकृत पदानुक्रम पर आधारित होना चाहिए?

इस सिलसिले में ऑस्टिन भारतीय संविधान के एक अन्य विशेषज्ञ व्हेयर के इस कथन का भी प्रतिवाद करते हैं कि संविधान में नीति-निर्देशक सिद्धांत जैसे सामान्य प्रकृति के कथन शामिल करने से कोई लाभ नहीं हुआ है। इसके जवाब में ऑस्टिन कहते हैं कि, 'संघीय सरकार तथा राज्य की विधायिकाओं के लिए नीति-निर्देशक सिद्धांतों ने मार्गदर्शक की भूमिका निभाई है; अगर एक ओर न्यायालयों ने अपने निर्णयों में उनका हवाला दिया है तो दूसरी ओर इन प्रावधानों का सरकारी निकायों के कामकाज पर भी असर रहा है। मसलन, 1949 में गठित भारतीय वित्त आयोग ने यह सिफारिश की थी कि उसकी अनुशंसाएँ नीति-निर्देशक सिद्धांतों से निर्देशित होनी चाहिए। रिपोर्ट में कहा गया था कि 'यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भारत के आर्थिक विकास की नीति नीति-निर्देशक सिद्धांतों में निर्दिष्ट 'उद्देश्यों' के अनुरूप होनी चाहिए'।⁷

बहरहाल, हम जानते हैं कि भारतीय संविधान की रचना ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ किसी जन-युद्ध के बाद नहीं हुई थी। हमारा स्वतंत्रता-संघर्ष एक बहु-स्तरीय परिघटना थी जिसमें एक तरफ जनता की व्यापक लामबंदी निहित थी तो दूसरी तरफ ब्रिटिश राज द्वारा स्थापित संवैधानिक दायरे के भीतर चलने वाली गतिविधियाँ भी शामिल थीं। बिपन चंद्र के शब्दों में कहें तो यह एक ऐसा संघर्ष था जिसके एक सिरे पर संघर्ष रहता था और दूसरे पर समझौता।⁸ जाहिर है कि इस प्रक्रिया के गर्भ से निकले देश का संविधान पिछली संस्थाओं का संहार करके बहुत रैडिकल रुख अख्तियार नहीं कर

⁷ ग्रेनविल ऑस्टिन (1966) : 114.

⁸ बिपन चंद्र (1989) : 465.



सकता था। इस कोण से देखें तो भारतीय संविधान में नीति-निर्देशक सिद्धांतों की श्रेणी ही देश के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण का घटक बन सकती थी, और शायद इसी के आधार पर सामाजिक क्रांति का कार्यक्रम तैयार किया जा सकता था।

यह शायद अलग से कहने की जरूरत नहीं है कि भारतीय संविधान न किसी धर्मग्रंथ से प्रेरित है, न किसी ईश्वरीय आदेश की अनुकृति है और न ही कोई पवित्र दस्तावेज़ है। चूँकि संविधान की रचना एक निश्चित भू-भाग में रहने वाले समस्त समाज के लिए की जाती है और वह एक सचेत मानवीय कर्म की श्रेणी में आती है, इसलिए उसका मूल्यांकन भी इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि उसमें निहित आदर्श, मूल्य और सिद्धांत समाज के वंचित वर्गों और समुदायों के जीवन में सकारात्मक बदलाव लाने का प्रयत्न करते हैं या उनसे बच कर निकल जाते हैं।

इस नज़रिये से देखें तो ऑस्टिन का यह बीज-वक्तव्य भारतीय संविधान के उन कतिपय उपायों को सामाजिक क्रांति की संज्ञा दे डालता है जिनको समाहित-समायोजित किये बिना यह संविधान लोकतांत्रिक कहलाने तक की अर्हता गँवा देता है। जैसा कि हमने पीछे कहा, ऑस्टिन उक्त अध्याय में मौलिक अधिकारों तथा नीति-निर्देशक सिद्धांतों को एक जगह रखते हैं और उनके योगफल के आधार पर संविधान को सामाजिक क्रांति का वाहक घोषित कर देते हैं। ऐसे में सवाल यह उठता है कि यहाँ अधिकारों के जिन दो रूपों को सामाजिक क्रांति का आधार बताया गया है उनमें अधिकारों की एक श्रेणी यानी नीति-निर्देशक सिद्धांतों का महत्त्व एक नीति-कथा से आगे नहीं बढ़ पाता: राज्य चाहे तो उन पर अमल कर सकता है और अगर न चाहे तो उसे क़ानूनी तौर पर बाध्य नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, जिन प्रावधानों के ज़रिये सामाजिक जीवन में बुनियादी बदलाव लाया जा सकता है तथा आम नागरिक को शैक्षिक व आर्थिक तौर पर इतना सक्षम बनाया जा सकता है कि ज़रूरत पड़ने पर वह मौलिक अधिकारों का उपयोग कर सके— उन्हें राज्य के विवेक पर छोड़ दिया गया है। क्या इसका मतलब यह है कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों की अपनी कोई स्वतंत्र हैसियत नहीं है या उन्हें एक सुविचारित नीति के तहत महत्त्वहीन बनाया गया है ?

आख़िर, जिन अधिकारों के क्रियान्वयन के लिए राज्य पर कोई जवाबदेही आयद न की जा सके, उन्हें किस सीमा तक अधिकार की श्रेणी में रखा जा सकता है ? यह ठीक है कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों में तीन बार संशोधन करके उनके दायरे का विस्तार किया गया है।⁹ लेकिन अंततः संवैधानिक दिशा-निर्देशों का यह समुच्चय एक ऐसा इलाक़ा है जिसमें नागरिक-समाज के स्तर पर तमाम पहलक़दमी करने के बावजूद आख़िरी फ़ैसला या क़दम सरकार ही ले सकती है। इन सिद्धांतों को किस सीमा और रूप में लागू किया जाएगा, यह राज्य और सरकार की मंशा या सदाशयता पर छोड़ दिया गया है।

बहरहाल, लेख के अगले हिस्से में हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि सामाजिक क्रांति के इस आदर्श के प्रति संविधान सभा कितनी गम्भीर थी। लेकिन यहाँ आगे बढ़ने से पहले यह स्पष्ट करना ज़रूरी होगा कि इस लेख में हमने नीति-निर्देशक सिद्धांतों के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण से जुड़े पहलुओं पर ही विचार किया है। भारतीय संविधान में यह भावना स्पष्टतः ध्वनित होती है कि राज्य के हर नागरिक को (वह चाहे जिस जाति, धर्म, भाषा, लिंग, क्षेत्र या नस्ल से संबंध रखता हो)

⁹ लेख की सीमाओं को देखते हुए हम यहाँ केवल दो संशोधनों का ही उल्लेख करेंगे। संविधान के पच्चीसवें संशोधन, 1971 के अनुसार नीति-निर्देशक सिद्धांतों में एक अनुच्छेद 31-सी जोड़ा गया था। इसमें कहा गया था कि अगर नीति निर्देशक सिद्धांतों के किसी उपबंध के क्रियान्वयन हेतु उसे मौलिक अधिकारों के ऊपर तरज़ीह दी जाती है तो इसे मौलिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं माना जाएगा। नीति-निर्देशक सिद्धांतों (अनुच्छेद 45) के संबंध में दूसरा महत्त्वपूर्ण संशोधन 2002 में किया गया। संविधान के इस छियालीसवें संशोधन के तहत बच्चों के लिए अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गयी।



एक गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार मिलना चाहिए। अगर संक्षेप में कहें तो, संविधान देश में एक जन-कल्याणकारी ढाँचा (अनुच्छेद 38) विकसित करने के लिए हर नागरिक को एक न्यूनतम आय (अनुच्छेद 43), लोगों का जीवन-स्तर बेहतर बनाने, उन्हें पोषाहार मुहैया कराने तथा जन-स्वास्थ्य की सुविधाएँ (अनुच्छेद 47) और चौदह वर्ष तक के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा (अनुच्छेद 45) जैसे नैतिक अधिकार प्रदान करता है। इस क्रम में जीविका के उपयुक्त साधनों (अनुच्छेद 41), बेरोजगारी, बुढ़ापे तथा विकलांगता की स्थिति में सार्वजनिक सहायता जैसे नैतिक उपाय भी शामिल किये जा सकते हैं।¹⁰ इस तरह देखें तो भारतीय संविधान में सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को स्पष्ट मान्यता प्रदान की गयी है। लेकिन, जैसा कि हमने पीछे कहा, इसकी विडम्बना यह है कि इन अधिकारों की मान्यता नैतिक आशयों से निकल कर क्रान्ती उपचारों की ठोस जमीन हासिल नहीं कर पाती। जैसा कि हम जानते हैं, सामाजिक-आर्थिक अधिकारों का यह पूरा इलाका न्यायिक सक्रियता के दायरे से बाहर रखा गया है।

संविधान सभा में नीति-निर्देशक सिद्धांतों के सामाजिक-आर्थिक अनुच्छेदों से संबंधित बहस पर ध्यान दिया जाए तो तीन तरह के वैचारिक आग्रह सामने आते हैं। इनमें एक आग्रह नीति-निर्देशक सिद्धांतों के दूरगामी महत्त्व और मर्म में न जाकर उन पर खालिस क्रान्ती नज़रिये से विचार करना चाहता है। दूसरा आग्रह, राज्य को निष्कपट और सदाशयी मानते हुए अपना मौजूदा कार्यभार भविष्य की सरकारों पर छोड़ देने की बात करता है; जबकि तीसरा दृष्टिकोण राज्य को नीति-निर्देशक सिद्धांतों के प्रति जवाबदेह बनाने पर ज़ोर देता है। इसके समर्थकों की दलील यह है कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों को राज्य के मौलिक कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

मसलन, संविधान सभा में 19 नवम्बर, 1948 की चर्चा में जब काज़ी सैय्यद करीमुद्दीन ने यह प्रस्ताव रखा कि अगर इन सिद्धांतों के क्रियान्वयन के लिए अदालत की शरण नहीं ली जा सकती तो उन्हें संविधान में शामिल किये जाने का कोई औचित्य नहीं है। ज़ाहिर है कि करीमुद्दीन नीति-निर्देशक सिद्धांतों को राज्य-नीति के बुनियादी सिद्धांत घोषित किये जाने के पक्षधर थे। उनका कहना था कि संविधान के मौजूदा अध्याय में नीति-निर्देशक प्रावधान अर्थहीन औपचारिकता और सदृच्छाएँ बन कर रह गये हैं। उन्होंने आगे कहा कि इन सिद्धांतों को क्रान्ती तौर पर अपरिहार्य घोषित किया जाना चाहिए ताकि उनके आधार पर बनाई जाने वाली योजना पर दस साल की अवधि में अमल किया जा सके।¹¹ इसी तरह, अपने प्रस्ताव में एच.वी. कामत ने भी इसी बात पर ज़ोर दिया था कि संविधान के चौथे भाग के शीर्षक में 'नीति-निर्देशक' की जगह 'मौलिक' का प्रयोग किया जाना चाहिए।¹² सभा के वरिष्ठ सदस्य अनंतशयनम आर्यंगर ने करीमुद्दीन के संशोधन-प्रस्ताव का इस तंजिया लहज़े में जवाब दिया था :

मुझे नहीं पता कि करीमुद्दीन ने वकालत पढ़ी है या नहीं। लेकिन उन्हें एक-दो प्रस्तावों पर गौर करना चाहिए। छब्बीसवें अनुच्छेद में कहा गया है कि राज्य को दस वर्ष के भीतर सार्वभौम शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिए। इसे एक उदाहरण मान कर चलें। अब यह कल्पना करिए कि राज्य ऐसा नहीं कर पाता। तो क्या ऐसे में कोई अदालत इसे लागू कर सकती है? वह इसे किसके खिलाफ़ लागू करेगी? अगर अदालत इस आशय का कोई निर्देश जारी करती है तो उस पर कार्रवाई कौन करेगा? अगर इस आदेश पर सरकार कार्रवाई नहीं करती तो क्या उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय कार्रवाई करेगा? क्या ऐसे में सर्वोच्च न्यायालय के पास ऐसा कोई अधिकार है कि वह

¹⁰ नीति-निर्देशक सिद्धांतों के इन उपबंधों का चयन दुर्गादास बसु की रचना *इंट्रोडक्शन टू द कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ़ इण्डिया* से किया गया है।

¹¹ के.एस. करीमुद्दीन का संशोधन-प्रस्ताव. देखें, *कॉन्स्टीट्यूटेंट एसेम्बली डिबेट्स*, सातवाँ खण्ड : 473.

¹² वही.



सरकार को बदल दे ? क्या वह अपने प्राधिकार का प्रयोग करते हुए न्यायालय के किसी अधिकारी, अमीन या शेरिफ के जरिये सारे मंत्रियों को जेल भिजवा कर नये मंत्रिमण्डल का गठन कर सकती है ? हमने जिस तरह के प्रावधान रचे हैं उनमें ऐसी बातें निर्देशों के रूप में ही रह सकती हैं, उन्हें वाद-योग्य अधिकारों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।¹³

आयंगर के इस वक्तव्य को ध्यान से देखें तो इसमें ऐसा नहीं लगता कि वे करीमुद्दीन की भावना या उनके आशय को समझने की कोशिश कर रहे हैं। उनका पूरा तर्क इस बात से तय हो रहा है कि क्रान्ती तौर क्या औचित्यपूर्ण है और क्या सम्भव नहीं है।

सभा की इस चर्चा में नीति-निर्देशक सिद्धांतों को वाद-योग्य बनाए जाने की दलीलों में सबसे सुचिंतित और सुविचारित दलील के.टी. शाह की थी। शाह ने अनुच्छेद 29 के संबंध में अपना संशोधन प्रस्ताव रखते हुए कहा था कि संविधान के इस भाग में निर्दिष्ट प्रावधानों को 'नागरिकों के प्रति राज्य के अनिवार्य कर्तव्य के रूप में निबद्ध' किया जाना चाहिए। शाह की यह दलील जितनी आवेशपूर्ण है उतनी ही तर्कपूर्ण है। एक तरह से उनकी यह दलील संविधान सभा के उन तमाम सदस्यों से भी जवाबतलब करती है जो नीति-निर्देशक सिद्धांतों में विन्यस्त कार्यभार भविष्य की सरकारों या जनता की सक्रियता के खाते में डालकर फ़ारिग हो जाना चाहते थे। यह दलील तत्कालीन और भविष्य के संविधानविदों, योजनाकारों तथा सरकार के प्रतिनिधियों के उस स्थगनवादी रवैये पर भी सवाल खड़ा करती है जो तब भी यही कहते थे और सरकार के बुनियादी कर्तव्यों के बारे में आज भी कमोबेश यही कहते पाए जाते हैं कि राज्य के पास नीति-निर्देशक सिद्धांतों पर अमल करने के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं हैं। के.टी. शाह ने अपने संशोधन-प्रस्ताव में कहा था :

श्रीमान्, अनुच्छेद 29 में शुरू में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि इन आदर्शों के क्रियान्वयन के लिए न्यायालय की शरण नहीं ली जा सकती ... इसका अर्थ है कि हमने जिन उम्मीदों, आकांक्षाओं और इच्छाओं के साथ इन क्रान्तियों और इस संविधान की रचना की है, उन्हें इस संविधान के सबसे बुनियादी, महत्वपूर्ण तथा रचनात्मक अध्याय में शुरू से ही निरस्त कर दिया गया है ... यह एक ऐसा प्रावधान है जो न्यायालय तथा कार्यपालिका को संविधान में प्रदत्त व्यवस्था का पालन करने के बजाय केवल अपनी सुविधा और व्यावहारिकता का ध्यान रखने की प्रेरणा देता है। मुझे तो यह प्रावधान एक ऐसे चैंक की तरह लगता है जिसे बैंक अपनी मर्जी से भुनाएगा ... मुझे लगता है कि मेरा संशोधन स्वीकार किये बगैर अपने मौजूदा रूप में यह अध्याय संविधान के रचनाकारों की कुछ अस्पष्ट सी इच्छाओं— कि जब परिस्थितियाँ अनुकूल होंगी, हालात इजाजत देंगे और तब हम ऐसा या वैसा कर लेंगे। मैं उन तमाम सदस्यों का पूरा सम्मान करता हूँ जिन्होंने इस अध्याय के शीर्षक में 'नीति-निर्देशक' शब्द यथावत् रखने की पैरवी की है, परंतु मैं यह भी कहना चाहूँगा कि इस अध्याय के विभिन्न प्रावधानों में कुछ भी अनिवार्य या अपरिहार्य नहीं है। श्रीमान्, अगर संविधान की रचना के बाद देश का शासन सँभालने वाले लोगों को कुछ अनिवार्य निर्देश नहीं दिये जाते तो यह पूरी तरह सम्भव है कि इतने वर्षों से हम जिन बातों की उम्मीद करते आ रहे हैं, वे हमारे जीवन में कभी फलीभूत ही नहीं हो पाएँगी। श्रीमान्, मैं कहना चाहता हूँ कि कोशिश करने से पहले हमें बहुत सारी चीज़ें कठिन ही लगती हैं लेकिन कोशिश करने पर वही व्यावहारिक लगने लगती हैं। कोशिश के बगैर दुनिया में कोई काम व्यावहारिक नहीं होता। उदाहरण के लिए, प्राथमिक शिक्षा के अधिकार की बात करें। दुनिया की हर सभ्य सरकार देश के बच्चों को अनिवार्य शिक्षा मुहैया कराने का प्रयास कर रही है। लेकिन

¹³ सभा के वरिष्ठ सदस्य अनंतशयनम आयंगर का कथन. देखें, *कांस्टीट्यूएंट एसेम्बली डिबेट्स*, सातवाँ खण्ड : 475.



यहाँ अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का यह अधिकार भी इतने भौंडे, आधे-अधूरे और रुकते-अटकते अंदाज़ में दिया गया है कि कई बार संदेह होता है कि इस मसविदे के रचनाकार अज्ञान के उस अभिशाप को वाकई मिटाना भी चाहते हैं कि नहीं जो हमारे ऊपर इतने बरसों से हावी रहा है।¹⁴

गौरतलब है कि के.टी.शाह इस बात से भी क्षुब्ध थे कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों के मसविदे में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के विषय में सिर्फ़ इतना कहा गया था कि राज्य दस वर्ष की अवधि में इस उद्देश्य को पूरा करने का 'प्रयास' करेगा।¹⁵

संविधान सभा की इस बहस में करीमुद्दीन, कामत और के.टी. शाह आदि के अलावा अन्य सदस्यों का रुख या तो स्थगनवादी रहा या इस नुक्ते के इर्द-गिर्द घूमता रहा कि क्रान्ती तौर पर ऐसा करना उचित या औचित्यपूर्ण नहीं होगा।

अब सार्वभौम प्राथमिक शिक्षा के इस संकल्प को एकबारगी संविधान सभा की बहस से बाहर लेकर आएँ और यह देखने की कोशिश करें कि जो लोग यह मान कर चल रहे थे कि जनता के दबाव के कारण भविष्य की सरकारें नीति-निर्देशक सिद्धांतों को क्रियान्वित करने के लिए मजबूर हो जाएँगी, उनका यह विश्वास कितना सही सिद्ध हुआ है।¹⁶ इसके लिए हम संविधान सभा के गठन से थोड़ा और पीछे जाएँगे।

कांग्रेस ने 1931 के कराची सम्मेलन में इस आशय का प्रस्ताव पारित किया था कि राज्य को अपने सभी नागरिकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबंध करना चाहिए। वर्षा में 1937 में आयोजित अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में भी इस विचार का समर्थन किया गया। इसके बाद संविधान की रचना के दौरान संविधान सभा की सुझाव समिति ने कई प्रकार की उप-समितियों का गठन किया था। इनमें एक उप-समिति मूल अधिकारों से संबंधित थी जिसकी कमान आचार्य कृपलानी को सौंपी गयी थी। इस उप-समिति ने 14 वर्ष तक के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की सिफ़ारिश की थी जिस पर संविधान सभा की सुझाव समिति ने भी अपनी सहमति प्रकट की थी। परंतु आज़ादी के बाद नेहरू सरकार ने देश की प्रगति के लिए जिस मिश्रित अर्थव्यवस्था का रास्ता अपनाया उसमें सार्वजनिक संसाधनों के लिहाज़ से उद्योगपतियों को ज्यादा तरज़ीह दी गयी। प्राथमिक शिक्षा जैसे बुनियादी क्षेत्र पर सार्वजनिक व्यय का केवल दो फ़ीसदी खर्च किया गया। तुलनात्मक रूप से देखें तो भारत में शिक्षा पर सार्वजनिक व्यय इथोपिया, मलावी, एवम् दक्षिण अफ़्रीका जैसे अफ़्रीकी तथा थाईलैण्ड जैसे पूर्वी एशियाई देशों से भी कम रहा है। आज़ादी के बाद तीन दशकों तक भारत सरकार ने शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का ढाई से चार फ़ीसदी खर्च किया जबकि केन्या, और मलावी जैसे अफ़्रीकी देशों में यह आँकड़ा आठ और सात फ़ीसदी रहा था।¹⁷

प्राथमिक शिक्षा के प्रति यह स्थगनवादी रवैया आज तक नहीं बदला। मसलन, भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने 1993 के एक ऐतिहासिक फ़ैसले में मूल अधिकारों तथा नीति-निर्देशक सिद्धांतों के पारस्परिक संबंधों की व्याख्या करते हुए उन्हें एक दूसरे का पूरक बताया था और यह ताक़ीद की थी कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत वर्णित अनुच्छेद 45 को मूल अधिकारों के अनुच्छेद 21 के साथ रखकर देखा जाना चाहिए। उन्नीकृष्णन निर्णय के नाम से प्रसिद्ध इस निर्णय में यह बात विशेष

¹⁴ देखें, *कांस्टीट्यूटेंट एसेम्बली डिबेट्स*, सातवाँ खण्ड : 479.

¹⁵ वही.

¹⁶ बी.आर. आम्बेडकर का मानना था कि भविष्य की कोई भी सरकार नीति-निर्देशक सिद्धांतों को अवहेलना नहीं कर सकेगी क्योंकि अंततः उसे जनता के चुनावी फ़ैसले का ध्यान रखना होगा. देखें, *कांस्टीट्यूटेंट एसेम्बली डिबेट्स*, आठवाँ खण्ड : 41.

¹⁷ नीरज जैन (2015) : 42.

रूप से रेखांकित की गयी थी कि शिक्षा का अधिकार जीवन के अधिकार से जुड़ा है क्योंकि जीवन के अधिकार में सम्मानपूर्वक जीना निहित है और सम्मानजनक ढंग से जीने के लिए शिक्षा एक आवश्यक शर्त है। इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय की एक और टिप्पणी भी गौरतलब है। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों के समस्त अनुच्छेदों में केवल अनुच्छेद 45 ही एक निश्चित समय-सीमा की बात करता है। उसने सवालिया अंदाज़ में पूछा था: क्या इस (नियत समय-सीमा) का कोई मतलब नहीं है? क्या संविधान के अंगीकरण के चवालीस सालों बाद भी यह एक सदृच्छा मात्र ही है? ... क्या चवालीस वर्षों का यह अंतराल, जो अनुच्छेद 45 में निर्धारित समयावधि से चार गुणा ज्यादा बैठता है, इस दायित्व को एक लागू करने लायक अधिकार का दर्जा प्रदान नहीं कर देता? ¹⁸ सर्वोच्च न्यायालय ने शायद इन्हीं सवालों को मद्देनज़र रखते हुए ही कहा था कि अनुच्छेद 45 अब एक मौलिक अधिकार की हैसियत रखता है।

लेकिन, न्यायालय के हस्तक्षेप के बाद भारतीय राज्य ने इस लम्बित माँग पर जिस तरह से कार्रवाई की है वह उसकी जनपक्षधरता के दावे को संदिग्ध साबित कर देती है। उन्नीकृष्णन निर्णय का संदेश बिल्कुल साफ़ था कि चौदह साल तक के सभी बच्चों को मुफ्त प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने के लिए राज्य को अपनी वित्तीय प्राथमिकताएँ बदलनी होंगी। सरकार द्वारा गठित तापस मजूमदार समिति की रिपोर्ट में भी ठीक यही बात कही गयी थी। समिति ने कहा था कि इस अधिकार को मूर्त रूप देने के लिए संसाधनों का दुबारा आवंटन करना होगा। ¹⁹

चूँकि सर्वोच्च न्यायालय के हस्तक्षेप के कारण शिक्षा का अधिकार नीति-निर्देशक सिद्धांतों के घेरे से निकल कर मूल अधिकारों की चौहद्दी में आ गया था इसलिए सरकार के लिए अब यह एक संवैधानिक दायित्व बन गया था। लिहाज़ा, नवम्बर, 2001 में सरकार ने लोकसभा में 86वाँ संशोधन विधेयक पेश किया। जिसका प्रकट उद्देश्य तो शिक्षा के मौलिक अधिकार का कार्यकारी ढाँचा तैयार करना था लेकिन हकीकत यह थी कि सरकार के लिए यह ज़िम्मेदारी से बचने का पैतरा ज्यादा था। गौर करें कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों के मूल पाठ में चौदह वर्ष तक के सभी बच्चों को शिक्षा प्रदान करने की बात कही गयी थी जबकि इस संशोधन विधेयक में छह से चौदह वर्ष तक के बच्चों की बात कही जा रही थी। ²⁰ यहाँ अलग से कहने की ज़रूरत नहीं है कि सरकार इस अधिकार को अमली जामा पहनाने से पहले उसका दायरा इतना सीमित कर देना चाहती थी कि उसकी ज़िम्मेदारी न्यूनतम रह जाए। यह बात विधेयक की भाषा से भी ज़ाहिर होती थी जिसमें सरकार ने अपने लिए बचाव का रास्ता ढूँढ़ लिया था। इसमें कहा गया था कि अधिकार का क्रियान्वयन राज्य द्वारा निर्धारित क़ानून पर निर्भर होगा। ²¹ अपने इस संशोधन विधेयक के ज़रिये सरकार ने एक तरफ़ छह वर्ष तक के लगभग सत्रह करोड़ बच्चों को इस अधिकार के दायरे से बाहर खड़ा कर दिया था तो दूसरी तरफ़ 'क़ानून के आधार पर राज्य जैसी व्यवस्था करे' ('एज़ द स्टेट मे, बाइ लॉ डिटरमाइन') की ओट में यह सुनिश्चित करना चाहती थी कि छह से चौदह वर्ष तक के लगभग बीस करोड़ बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के लिए उसे विशेष प्रयत्न न करने पड़ें। दरअसल, शिक्षा के इस मौलिक अधिकार को सही अर्थों में लागू करने के लिए सरकारी स्कूलों की संख्या में इज़ाफ़ा करना ज़रूरी था। इसका दूसरा मतलब यह भी था कि सरकार पूर्णकालिक और स्थायी अध्यापकों की नियुक्ति करे। लेकिन अपने नव-उदारतावादी एजेण्डे के कारण सरकार इतनी विशाल राशि खर्च करने के लिए क़तई तैयार नहीं थी। विधेयक के

¹⁸ जे.पी. उन्नीकृष्णन तथा अन्य बनाम आंध्र प्रदेश तथा अन्य, 3 फ़रवरी, 1993. देखें, <http://indiankanoon.org>.

¹⁹ अनिल सद्गोपाल (2010) : 19.

²⁰ नीरज़ जैन (2015) : 104.

²¹ वही.

संविधान सभा के सदस्य



शाह की यह दलील ... संविधान सभा के उन तमाम सदस्यों से भी जवाबतलब करती है जो नीति-निर्देशक सिद्धांतों में विन्यस्त कार्यभार भविष्य की सरकारों या जनता की सक्रियता के खाते में डालकर फ़ारिग हो जाना चाहते थे। यह दलील तत्कालीन और भविष्य के संविधानविदों, योजनाकारों तथा सरकार के प्रतिनिधियों के उस स्थगनवादी रवैये पर भी सवाल खड़ा करती है जो तब भी यही कहते थे और सरकार के बुनियादी कर्तव्यों के बारे में आज भी कमोबेश यही कहते पाए जाते हैं कि राज्य के पास नीति-निर्देशक सिद्धांतों पर अमल करने के लिए पर्याप्त संसाधन नहीं हैं।

इरादे और वस्तु-स्थिति के बीच कितना फ़ासला था यह बात विधेयक के साथ नत्थी किये गये वित्तीय आकलन और मजूमदार समिति के आकलन से साफ़ हो जाती है। विधेयक से जुड़े वित्तीय स्मरण-पत्र में कहा गया था कि इस अधिकार को लागू करने के लिए हर वर्ष 9800 करोड़ रुपयों की अतिरिक्त व्यवस्था करनी होगी। जबकि मजूमदार समिति के आकलन में यह वार्षिक राशि 13760 करोड़ बैठती थी।²² गौरतलब है कि मजूमदार समिति स्कूली शिक्षा से वंचित बच्चों को स्कूलों की नियमित व्यवस्था के जरिये शिक्षित करने की बात कर रही थी जबकि सरकार अपने इस दायित्व से फ़ारिग होने के लिए शिक्षा के अनौपचारिक ढाँचों का भी इस्तेमाल करना चाहती थी। सरकार की नज़र में यह महज़ एक संवैधानिक दायित्व था जिसमें शिक्षा की गुणवत्ता या उसका स्तर विशेष महत्त्व नहीं रखता था।

प्राथमिक शिक्षा का यह मसला जैसे-तैसे नीति-निर्देशक सिद्धांतों के शीत-गृह से तो बाहर आ गया लेकिन उसे मौलिक अधिकार का दर्जा प्रदान करने में सरकार लगातार आनाकानी करती रही। मसलन, 2006 में शिक्षा अधिकार के मसौदे पर प्रधानमंत्री द्वारा गठित मंत्रियों के उच्च-स्तरीय समूह ने यह कहा था कि संशोधन विधेयक में जिस अतिरिक्त राशि की माँग की गयी है वह सरकार के बूते से बाहर की बात है। इसलिए सरकार को प्रस्तुत विधेयक के कई मानकों और इसके क्रियान्वयन की अवधि में ढील देनी होगी।²³

²² अनिल सद्गोपाल द्वारा उद्धृत : 18.

²³ वही.



जैसा कि हमने पीछे देखा, देश के सभी बच्चों को बुनियादी शिक्षा प्रदान करने का यह लक्ष्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता से पहले निर्धारित किया गया था। संसाधनों के अभाव के नाम पर इसे पहले नीति-निर्देशक सिद्धांतों की पाँत में रख दिया गया और चार दशक बीत जाने के बाद जब इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने 1993 में हस्तक्षेप किया तो राज्य ने 2001 में जाकर विधेयक तैयार किया जिसे पारित होने में नौ साल और लग गये। बुनियादी शिक्षा के इस निरंतर टाले जाते और अंत में काट-छाँटकर अर्थहीन बना दिये गये इस लक्ष्य के संक्षिप्त अवलोकन के बाद यह सवाल लाजिमी तौर पर उठता है कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों के विषय में संविधान सभा का बहुमत और संविधान की रचना से सीधे जुड़े लोगों का रवैया इतना उदासीन और स्थगनवादी क्यों था? भारत में जिस सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण की बात राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान की जा रही थी उसे संविधान सभा भविष्य पर क्यों छोड़ देना चाहती थी? और एक सुचिंतित, लिखित तथा विशालकाय संविधान की रचना करने वाले सदस्यों ने राज्य की जरूरी भूमिका के प्रति इतना निस्पृह रवैया क्यों अपनाया?

गौरतलब है कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों जैसे सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के संबंध में राजनीतिक चिंतक अलग-अलग ढंग से विचार करते रहे हैं। इन अधिकारों के क्रियान्वयन में आने वाली समस्याओं की चर्चा करते हुए राजनीतिक सिद्धांतकार मुख्यतः दो तरह की दलील देते रहे हैं :²⁴

1. इन सिद्धांतों को इसलिए वाद-योग्य घोषित नहीं किया गया क्योंकि इन सिद्धांतों को अमली जामा पहनाने का मतलब राज्य के सीमित संसाधनों पर अनुचित दबाव डालना होता। इस दलील के तहत यह भी कहा जाता है कि संसाधनों के अभाव को देखते हुए अगर राज्य इन पर अमल करने की कोशिश करता तो इससे सामाजिक विद्वेष या टकराव पैदा होता।

2. इन सिद्धांतों की प्रकृति राज्य से सक्रिय कार्रवाई की माँग करती है। जिसका अनिवार्य अर्थ यह है कि राज्य इन सिद्धांतों के क्रियान्वयन के लिए भारी विशाल धन-राशि खर्च करने के लिए तैयार रहे।

गौर से देखा जाए तो असल में ऊपर की दोनों दलीलें एक ही आधार पर टिकी हैं। उनमें निहित मूल तर्क यह है कि राज्य के पास इतने संसाधन नहीं हैं कि वह इन सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप दे सके। लेकिन हम जानते हैं कि भारत में आज़ादी की बेला से लेकर सात दशकों के दौरान भारतीय राज्य ने आधारभूत संरचना तथा उद्योगीकरण के लिए कई ऐसे फैसले लिए हैं जिनके लिए बहुत भारी निवेश की जरूरत पड़ी है। तो क्या ऐसे में यह सवाल नहीं पूछा जाना चाहिए कि अगर भारतीय राज्य किसी एक क्षेत्र में नियोजित ढंग से बड़े पैमाने पर निवेश कर सकता था तो ऐसा ही क्रम किसी दूसरे क्षेत्र के लिए क्यों नहीं उठाया गया।

दरअसल, इन प्रश्नों का उत्तर किसी एक जगह नहीं ढूँढ़ा जा सकता। नीति-निर्देशक सिद्धांतों और भारत के सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण के लक्ष्य की यह अवहेलना शायद राष्ट्रीय आंदोलन के आर्थिक दृष्टिकोण का एक तार्किक परिणाम थी। शुरुआती दौर के 'प्रार्थना और वफादारी'²⁵ पर आधारित राष्ट्रवाद से लेकर जनता की व्यापक सहभागिता तक पहुँचा राष्ट्रीय आंदोलन देश में गरीबी के उन्मूलन की बात तो करता रहा लेकिन गरीबी के कारणों, उसकी जटिलताओं और उसके समाधान का ठोस खाका तैयार करने में विफल रहा।

जैसा कि खिलनानी कहते हैं, शुरुआती दौर के आर्थिक राष्ट्रवादियों की भाषा में देश के ग्रामीण क्षेत्र की गरीबी का तो उल्लेख किया जाता था लेकिन उसका लहजा हमेशा लाक्षणिक और इंगित

²⁴ राजीव भार्गव (2008) : 34-35.

²⁵ कांग्रेस के शुरुआती नेतृत्व, विशेषकर नरमपंथी गुट का राजनीतिक कार्यक्रम स्मरण और प्रार्थना-पत्र जैसी गतिविधियों पर आधारित था। इस दौर के राष्ट्रवादी जब कोई माँग करते थे तो उसके साथ ब्रिटिश सरकार के प्रति अपनी वफादारी और निष्ठा की बात करना नहीं भूलते थे। देखें, बिपन चंद्र (1989) : 32-51.



अस्पष्ट रहता था। गरीबी का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए वे अंग्रेज़ प्रशासकों द्वारा जुटाए गये आँकड़ों का प्रयोग करते थे। उनकी भाषा गरीब जनता के लिए एक अजनबी चीज़ थी। इसका सबसे दिलचस्प पहलू यह था कि आर्थिक राष्ट्रवादी चिंतक भारत की अन्य देशों के साथ तो बखूबी तुलना करते थे लेकिन भारतीय जनता के विभिन्न स्तरों की आपस में कोई तुलना नहीं करते थे। वे जब ग्रामीण भारत की गरीबी दूर करने की बात करते थे तो उसमें कृषि-सुधारों का कोई उल्लेख नहीं होता था। उनकी समझ में भारत की गरीबी दूर करने का उपाय यह था कि सम्पत्ति के निष्क्रमण पर रोक लगाई जाए और संसाधनों को उद्योग-क्षेत्र में पहलकदमी करने वाले लोगों के हवाले कर दिया जाए। उनका विश्वास था कि इस प्रक्रिया को अपना कर ग्रामीण भारत खुद ब खुद समृद्ध होता चला जाएगा।²⁶

इसके बाद कांग्रेस के कराची सम्मेलन में कहा गया कि 'जनता का शोषण खत्म करने के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता में भूख से बेहाल लाखों लोगों की सच्ची आर्थिक स्वतंत्रता भी निहित होनी चाहिए।' लेकिन आश्चर्य की बात है कि इस प्रस्ताव में भी किसी आर्थिक कार्यक्रम की तजवीज नहीं की गयी। राष्ट्रीय आंदोलन के तीसरे दशक के दौरान सुभाषचंद्र बोस की विशेष पहल पर नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय नियोजन समिति का गठन किया गया जिसमें उद्योगपतियों, वैज्ञानिकों, रियासतों के परामर्शदाताओं सहित विभिन्न विचारधाराओं के प्रतिनिधि शामिल थे। लेकिन इस समिति का अपना कोई विशिष्ट कार्यक्रम विकसित नहीं हो पाया। समिति के विषय में नेहरू आवश्यक साधनों की कमी और सहयोग न मिलने की शिकायत करते रहे और अंततः इसे 1940 में भंग कर दिया गया।²⁷

इस क्रम में अगर राष्ट्रीय आंदोलन की अंतर्निहित संरचनाओं तथा वर्गीय चरित्र पर ध्यान दिया जाए तो कई ऐसे तथ्य सामने आते हैं जिनसे यह भान होता है कि अपनी समस्त नैतिकता और सामाजिक विभेदों के प्रति समावेशी दृष्टिकोण के बावजूद स्वतंत्रता-आंदोलन वर्गीय दावेदारियों से मुक्त नहीं था। मसलन, तीसरे दशक के आखिर तक कांग्रेस का सामाजिक चरित्र काफी हद तक बदल चुका था। ग्रामीण भारत में अब वह उन स्थानीय ताकतवर समूहों पर निर्भर करने लगी थी जो उद्योगीकरण या सम्पत्ति और सत्ता के पुनर्वितरण में कतई दिलचस्पी नहीं रखते थे। इसके बाद प्रांतीय राजनीति के चुनावी तकाजों के कारण कांग्रेस प्रगतिशील बुद्धिजीवियों की देश-विषयक परिकल्पनाओं में बाधक बनने लगी थी। राजनीतिक सत्ता का यह गठबंधन कमोबेश छठे दशक तक जारी रहा। कांग्रेस की चुनावी सफलता ऊँची जातियों के ज़मींदारों और अन्य समृद्ध किसानों के समर्थन पर निर्भर करने लगी थी। इन वर्गों के साथ कांग्रेस का यह गठबंधन 1947 के बाद भी चलता रहा क्योंकि सामाजिक पदानुक्रम में निचले पायदान पर आने वाले सामाजिक समूहों के वोट उन्हीं के हाथों में रहते थे। कांग्रेस के लिए इस समृद्ध ग्रामीण वर्ग का समर्थन इतना ज़रूरी था कि अंततः उसे सम्पत्ति के पुनर्वितरण का इरादा ही छोड़ना पड़ा और ग्रामीण क्षेत्र में सम्पत्ति से संबंधित फ़ैसले इस वर्चस्वशाली वर्ग के हाथों में सौंपने पड़े।²⁸

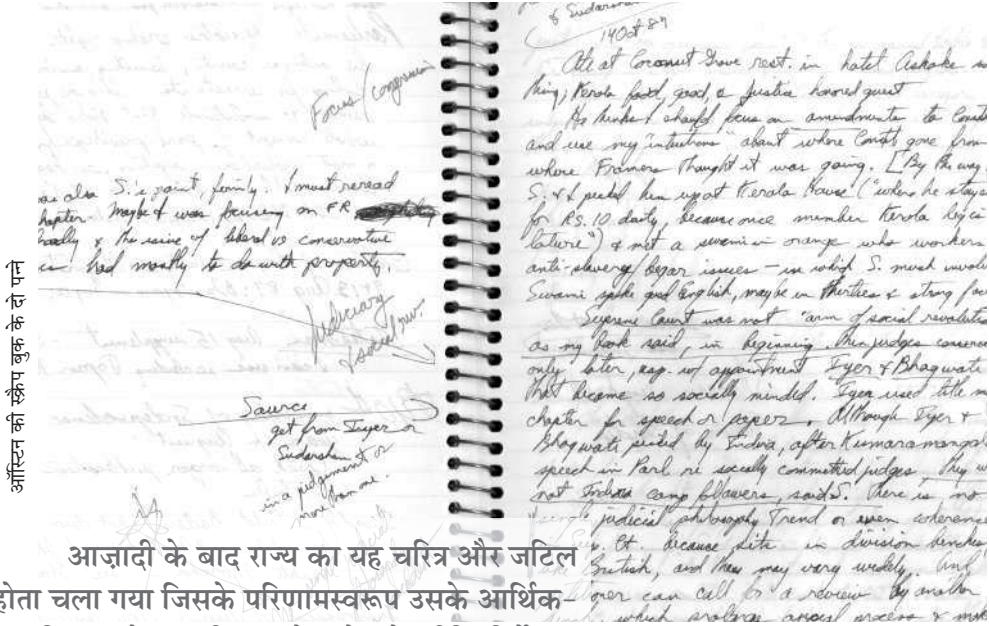
खिलनानी के इस उद्धरण की रोशनी में यह कहना बहुत अनुचित नहीं होगा कि संविधान सभा में देश के सामाजिक-आर्थिक भविष्य का दस्तावेज़ लिखने वाला नेतृत्व सिर्फ़ 'दरिद्रनारायण' की चिंताओं से कातर नहीं था। और संविधान-सभा महज़ एक नैतिक स्थल न होकर वर्गीय दावेदारियों, तथा वैचारिक आग्रहों का भी स्थल था। अगर एक तरफ़ रोज़मर्रा के ग्रामीण समाज में स्थानीय ज़मींदारों और सामान्यतया ऊँची जातियों के समृद्ध किसानों का वर्चस्व था तो सभा में मुख्यतः एक आधुनिक

²⁶ देखें, सुनील खिलनानी (1997) : 68-69.

²⁷ वही : 71-72.

²⁸ वही : 74.





आज़ादी के बाद राज्य का यह चरित्र और जटिल होता चला गया जिसके परिणामस्वरूप उसके आर्थिक-सामाजिक सरोकार भी बदलते चले गये। नीति-निर्देशक सिद्धांतों के संदर्भ में सभा के सदस्य जनता की ओर से उठने वाले जिन दबावों की बात कर रहे थे वे राज्य की नीतियों के कारण कमज़ोर पड़ते चले गये।

और औद्योगिक भारत की परिकल्पना पेश की जा रही थी। गौर करें कि इन दोनों स्थितियों में उस ज़मीन का जिक्र नहीं किया जा रहा था जिस पर नीति-निर्देशक सिद्धांतों के अमल का ढाँचा खड़ा किया जा

सकता था। जाहिर है कि यह कोई तकनीकी चूक नहीं बल्कि सुचिंतित निर्णय था।

नीति-निर्देशक सिद्धांतों के प्रति संविधान सभा का यह तदर्थवादी रवैया एक अर्थ में उसकी अपनी बनावट का भी परिणाम था। असल में, संविधान सभा 'आसन्न सत्ता के दबाव में अलग-अलग धाराओं और विभिन्न समूहों की एकजुटता' की ओर इंगित करती थी।²⁹ उसके गठन और कार्यवाहियों के दौरान भारत की आज़ादी एक तयशुदा बात बन चुकी थी। स्वतंत्रता का राष्ट्रीय आंदोलन अपनी परिणति पर पहुँच गया था। ऐसे में, संविधान सभा के अधिकांश सदस्य विवादास्पद विषयों और प्रश्नों को आगे खींचने के बजाय आम सहमति पर पहुँचना चाहते थे। गौरतलब है कि भारतीय संविधान की प्रशंसा करते हुए ऑस्टिन उसे सर्वसम्मति और सामंजस्य के सिद्धांत पर आधारित बताते हैं। उनके अनुसार 'सर्वसम्मति का सिद्धांत यह स्वीकार करके चलता है कि राजनीतिक अंतर्द्वंद्व और मानवीय संवेदनाओं के बीच एक बहुत गहरा संबंध होता है इसलिए ऐसे मामलों के समाधान में बहुमत का शासन सबसे कारगर ढंग नहीं माना जा सकता। इसमें यह भाव निहित है कि अगर कुछ परिस्थितियों में बावन लोग अड़तालीस लोगों पर अपनी राय थोपना चाहें तो नैतिक रूप से यह बात भले ही गलत न हो परंतु राजनीतिक दृष्टि से यह एक नासमझी की बात हो सकती है'।³⁰ लेकिन यहाँ यह देखना दिलचस्प होगा कि ऑस्टिन सर्वसम्मति, सामंजस्य या सहमति की जिस भावना को एक

²⁹ आदित्य निगम (2008) : 137.

³⁰ ग्रेनविल ऑस्टिन (1966) : 311.

सकारात्मक प्रवृत्ति की तरह प्रस्तुत कर रहे हैं उसे जयप्रकाश नारायण ने क्रांतिकारी भावना का अभाव बताया था।³¹ उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया था कि मोटे तौर पर सभा में विचारों और हितों के मामले में कभी संघर्ष के तेवर दिखाई नहीं पड़े।

इस क्रम में आगे देखें तो संविधान में समाजवादी राज्य के उल्लेख की अनुपस्थिति पर जवाब देते हुए खुद नेहरू का भी यही कहना था कि ऐसा कोई उद्देश्य सभी लोगों को स्वीकार्य नहीं हो सकता। इससे जाहिर होता है कि कई महत्वपूर्ण मसलों पर सभा विवाद में पड़ने के बजाय समझौते का रास्ता अख्तियार कर लेती थी।³²

सभा के अधिकांश सदस्य भारत को एक ताकतवर राज्य के रूप में देखना चाहते थे। उन्हें यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण नहीं लगा कि समाज के पुनर्निर्माण में राज्य की भूमिका क्या होगी। उनकी इस सहज भावना को नेहरू के इस विश्वास से बल मिलता था देश का नियोजित विकास एक ताकतवर राज्य द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में अंततः राज्य का जो नक्शा उभरा वह उदारतावादी लोकतंत्र, राज्य को मजबूत बनाने तथा जन-कल्याण के आग्रहों का नतीजा था। राज्य के इस चरित्र का अभिप्राय यह था कि राज्य का कानूनी आधार तो उदारतावादी लोकतंत्र से निकलेगा जबकि राज्य के राजनीतिक-वैचारिक आधार के तौर पर जन-कल्याण की गैर-वाद योग्य विचारधारा काम करेगी।³³ सभा के अधिकांश सदस्य यह मान कर चल रहे थे कि भविष्य की कोई भी सरकार नीति-निर्देशक सिद्धांतों की अनदेखी नहीं कर सकेगी क्योंकि जनता की तरफ से उस पर इन सिद्धांतों को कार्यान्वित करने का दबाव बना रहेगा। सभा के नेतृत्व की राय थी कि आर्थिक लोकतंत्र का उद्देश्य हासिल करने के लिए नीति-निर्देशक सिद्धांतों में इतनी जगह जरूर छोड़ी जानी चाहिए कि लोग उनके संबंध में अपने-अपने ढंग से विचार कर सकें।³⁴ उन्हें पूरा विश्वास था कि राज्य की संस्था निष्पक्ष और तटस्थ होकर काम करेगी। सभा में के.टी. शाह जैसे इक्के दुक्के सदस्य ही नवोदित राज्य के असली चरित्र की शिनाख्त करने में सक्षम थे। शायद यही वजह थी कि शाह जैसे लोग इस बात पर जोर दे रहे थे कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों को वाद-योग्य बनाया जाना चाहिए। मसलन, शाह का कहना था कि अगर राज्य देश के समस्त संसाधनों की एक पुख्ता योजना बनाए तो देश के हर स्वस्थ और योग्य व्यक्ति को काम का अधिकार भी दिया जा सकता है। इसलिए, उनका मानना था कि नीति-निर्देशक सिद्धांतों को सामान्य निर्देशों के बजाय एक राष्ट्रीय कार्यक्रम की तरह देखा जाना चाहिए।³⁵

लेकिन आजादी के बाद राज्य का यह चरित्र और जटिल होता चला गया जिसके परिणामस्वरूप उसके आर्थिक-सामाजिक सरोकार भी बदलते चले गये। नीति-निर्देशक सिद्धांतों के संदर्भ में सभा के सदस्य जनता की ओर से उठने वाले जिन दबावों की बात कर रहे थे वे राज्य की नीतियों के कारण कमजोर पड़ते चले गये। मसलन, भारत को एक मजबूत और आधुनिक राष्ट्र बनाने के मोह में नेहरू ने अपने कार्यकाल में बड़े उद्योगों को ज्यादा तरजीह दी जिसके कारण खेती के क्षेत्र में आवश्यक बदलाव नहीं किये जा सके। कुल मिलाकर राज्य का प्रशासनिक ढाँचा भूमि-सुधारों के प्रति उदासीन बना रहा। ग्रामीण भारत की खेतिहर अर्थव्यवस्था पर क्राबिज वर्गों को चुनौती देने के बजाय शासक दल के रूप में कांग्रेस ने ऐसे तत्त्वों को अपना सहयोगी बना लिया। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि भूमि का पुनर्वितरण राज्य सरकारों का दायित्व था जहाँ स्थानीय अधिकारी-तंत्र भूमि से जुड़े वर्चस्वशाली वर्गों का मुकाबला करने के बजाय उनका सहयोगी बनता चला गया। सातवें दशक तक

³¹ सुहास पल्शीकर (2008) द्वारा उद्धृत : 146.

³² वही.

³³ वही : 149.

³⁴ ग्रैनविल ऑस्टिन (1966) : 83.

³⁵ बेनेगल शिवा राव (1968) : 324-325. 5 अप्रैल, 2017 को <https://www.archive.org/> पर देखा गया.



राष्ट्रीय आंदोलन की विरासत धूमिल होने लगी थी। और राजनीति में उभरी नयी पीढ़ी यह समझने लगी थी कि राजनीति आदर्शों का संधान नहीं बल्कि सत्ता, लाभ और हिस्सेदारी साधने का उपक्रम हो गयी है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्येताओं के अनुसार सत्तर का यह दशक सामाजिक लोकतांत्रिक सम्भावनाओं से खदबदा रहा था लेकिन इंदिरा गाँधी की सत्ता-आकांक्षा के कारण सामाजिक-लोकतांत्रिक व्यवस्था में सत्ता का कोई ऐसा मजबूत केंद्र नहीं बन सका जो वर्चस्ववादी और वर्गीय हितों को चुनौती दे पाता। इस दौरान न तो सार्वजनिक शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान दिया गया और न ही स्वास्थ्य का बुनियादी ढाँचा दुरुस्त किया गया। इस दौर की तीसरी विफलता यह थी कि राज्य ने चक्रबंदी के बाद बचने वाली ज़मीन को काश्तकारों में वितरित करने का कोई नियोजित प्रयास नहीं किया। आपातकाल के बाद जब इंदिरा गाँधी दुबारा सत्ता में लौटी तो वे समाजवादी शब्दाडम्बर छोड़ कर आर्थिक वृद्धि पर जोर देने लगीं। यह एक तरह से इस बात की ओर भी संकेत करता था कि भारतीय राज्य अब संसाधनों के पुनर्वितरण पर और माथापच्ची नहीं करना चाहता। इंदिरा गाँधी का यह कार्यकाल राज्य के वर्गीय आधारों के एक नये व्यवस्थापन— श्रम के खिलाफ़ पूँजी को वरीयता दिये जाने की ओर भी इशारा करता है। आठवें दशक में भारतीय राज्य वृद्धि का पैरोकार बनने लगा था। अभिजन समूह समाजवादी आदर्श से कन्नी काटने लगे थे। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि अब ज़मीन के पुनर्वितरण तथा काश्तकारी से संबंधित सुधारों की ज़रूरत और उसका तार्किक औचित्य नीतिगत-चिंतन से बेदखल कर दिये गये।³⁶

संक्षेप में कहें तो 1991 में मुक्त बाज़ार या नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था के उद्घोष के बाद अब भारतीय राज्य पूँजीवाद और समाजवादी विचारधारा के घालमेल से निकल कर पूरी तरह पूँजीवादी राज्य बन चुका है। संसाधनों के पुनर्वितरण की दृष्टि से यह तथ्य विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि अब यह राज्य पिछले सारे संकोच छोड़ कर कॉरपोरेट पूँजी और उसके धारकों के साथ खड़ा हो गया है। इसके कारण नागरिक समाज भी कॉरपोरेट पूँजी की गिरफ्त में आ चुका है। मुख्यधारा की राजनीति और नागरिक समाज यानी शहरी मध्यवर्गीय जमात में आर्थिक वृद्धि की दर ऊँची रखने और कॉरपोरेट पूँजी की आवश्यकताओं को प्राथमिकता देने की बात खुले आम स्वीकार कर ली गयी है। इसका एक प्रकट प्रभाव यह हुआ है कि अर्थव्यवस्था के अनौपचारिक क्षेत्र तथा छोटी-मोटी सुविधाओं की माँग करने वाले समूहों के प्रति कड़ाई से पेश आने की बात की जाने लगी है।³⁷ जाहिर है कि अब यह राज्य प्रगति की कथा में पीछे छूट गये लोगों की भरपाई करना अपना कर्तव्य नहीं समझता।



नीति-निर्देशक सिद्धांतों के प्रति पहले संविधान सभा और बाद में भारतीय राज्य की भूमिका के इस संक्षिप्त आख्यान से पता चलता है कि संविधान के रचनाकारों की दृष्टि में इन सिद्धांतों का महत्त्व एक नीति-कथा जितना ही था। प्रौद्योगिकी, उद्योगीकरण तथा आधुनिकता के उपादानों से जिस नये राष्ट्र की तामीर की जा रही थी उसमें ये सिद्धांत एक अवशेष की तरह ही रखे जा सकते थे। चूँकि इन सिद्धांतों में देश के सामाजिक-पुनर्निर्माण की एक ऐसी परिकल्पना झलकती थी जिसे राष्ट्रीय आंदोलन अपने मूल तर्क की तरह लेकर चला था, इसलिए उन्हें औपचारिक तौर पर तिलांजलि नहीं दी जा सकती थी। लेकिन इन सिद्धांतों को ज़मीन पर उतारने के लिए जिस भावना और तैयारी की दरकार थी वह आंदोलन के आखिरी बरसों में कमजोर पड़ने लगी थी।

³⁶ अतुल कोहली (2010) : 499-503.

³⁷ पार्थ चटर्जी (2010) : 10.



इस संबंध में संविधान सभा के रुख से यह भी जाहिर होता है कि देश के आगामी सामाजिक-आर्थिक ढाँचे पर वह राज्य की तरह विचार करने लगी थी। और इस तथ्य से परिचालित होने लगी थी कि भविष्य की सरकार/राज्य के लिए क्या व्यावहारिक और वांछनीय होगा। पीछे हम यह बात भली-भाँति देख चुके हैं कि कांग्रेस भारतीय समाज के ताकतवर वर्गों—देहात में भू-स्वामियों व समृद्ध किसानों और शहरों में व्यवसायी-व्यापारिक हितों के खिलाफ नहीं जा सकती थी। नेतृत्व के लिए नीति-निर्देशक सिद्धांतों पर अमल करने का मतलब इन वर्गों की नाराज़गी मोल लेना था। ऐसे में, वह इन सिद्धांतों के प्रति एक नैतिकतावादी रवैया ही अपना सकता था। दूसरी बात, अगर आज़ादी के सात दशकों के दौरान भारतीय राज्य इन सिद्धांतों को कार्यान्वित करने का निर्णय नहीं ले पाया तो यह कहना बहुत ग़लत न होगा कि उसकी प्राथमिकताओं की सूची कुछ और थी। बहरहाल, नीति-निर्देशक सिद्धांतों की इस संक्षिप्त पड़ताल से पता चलता है कि राज्य की बदलती भूमिका के साथ उसके आर्थिक और सामाजिक सरोकार बदल गये हैं लेकिन अपने नैतिक कर्तव्य के तौर पर वह फिर भी कुछ मूल्यों, लक्ष्यों और आदर्शों की अभ्यर्थना करता रहता है। नीति-निर्देशक सिद्धांतों और उनमें निहित सामाजिक क्रांति के साथ शायद कुछ ऐसा ही हुआ है।

संदर्भ :

- अतुल कोहली (2010), 'पॉलिटिक्स ऐंड रीडिस्ट्रीब्यूशन', द ऑक्सफ़र्ड कम्पेनियन टू पॉलिटिक्स इन इण्डिया, नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सं.), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
- आदित्य निगम (2008), 'अ टेक्स्ट्स विदाउट ऑथर', राजीव भार्गव (सं.), पॉलिटिक्स ऐंड इथिक्स ऑफ़ द इण्डियन कांस्टीट्यूशन, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
- अनिल सदगोपाल (2003), 'एजुकेशन फ़ॉर टू फ़्यू', फ्रंटलाइन, 22 नवम्बर-5 दिसम्बर, 2003.
- (2010), 'राइट टू एजुकेशन वर्सेज़ राइट टू एजुकेशन एक्ट', सोशल साइंटिस्ट, खण्ड 38, अंक 9-12, सितम्बर-दिसम्बर, 2010.
- कांस्टीट्यूशनल एसंबली डिबेट्स, सातवाँ खण्ड, लोकसभा सचिवालय द्वारा प्रकाशित, नयी दिल्ली.
- कांस्टीट्यूशनल एसंबली डिबेट्स, आठवाँ खण्ड, लोकसभा सचिवालय द्वारा प्रकाशित, नयी दिल्ली.
- नॉर्मन डी. पामर (1967), बुक-रिव्यू : 'द इण्डियन कांस्टीट्यूशन: कॉर्नरस्टोन ऑफ़ अ नेशन', जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़, खण्ड 26, अंक 4.
- पार्थ चटर्जी (2010), 'द स्टेट', द ऑक्सफ़र्ड कम्पेनियन टू पॉलिटिक्स इन इण्डिया, नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सं.), ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
- बिपन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, क.न.पण्णिकर तथा सुचेता महाजन (1990), भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली.
- बेनेगल शिवा राव (सं.)(1968), द फ्रेमिंग ऑफ़ इण्डियन कांस्टीट्यूशन : सेलेक्ट डॉक्यूमेंट्स, खण्ड 4. <https://www.archive.org/> पर उपलब्ध.
- राजीव जैन (2015), एजुकेशन अण्डर ग्लोबलाइज़ेशन, आकार बुक्स, नयी दिल्ली.
- राजीव भार्गव (2008), 'इंट्रोडक्शन', राजीव भार्गव (सं.), पॉलिटिक्स ऐंड इथिक्स ऑफ़ द इण्डियन कांस्टीट्यूशन, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
- सुनील खिलनानी (1997), द आइडिया ऑफ़ इण्डिया, पेंग्विन बुक्स, लंदन.
- (1998), भारतनामा, अनु. अभय कुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
- सुहास पल्शीकर (2008), 'द इण्डियन स्टेट', राजीव भार्गव (सं.), पॉलिटिक्स ऐंड इथिक्स ऑफ़ द इण्डियन कांस्टीट्यूशन, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.